Research Paper Philosophy

अष्टांग योग तथा कर्मसिद्धान्त

डा० ऋचा श्रीवास्तव | दर्शन शास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ।

KEYWORDS

अष्टांग योग तथा कर्म सिद्धान्त

भारतीय दर्शन में योग का अत्यधिक महत्व है। पंतजलि ने योग को चित्तवृत्तिनिरोध बताया है। पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य का ज्ञान नहीं रहने के कारण ही आत्मा बन्धनग्रस्त हो जाती है। अतः मोक्ष के लिए तत्व ज्ञान पर अत्यधिक बल दिया गया है। तत्वज्ञान की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तक मनुष्य का चित्त विकारों से परिपूर्ण है। अतः योग दर्शन में चित्त की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए तथा चित्तवृत्तियों का निरोध करने के लिए अष्टांग योग की व्याख्या हुई है। मनुष्य अष्टांग के योगाभ्यास से अपने कर्मों द्वारा संसार के बन्धन से मुक्त होकर परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। परमलक्ष्य तक पहुँचने के लिए कर्म एक प्रधान साधन है। योग दर्शन में वर्तमान जीवन में अपना फल देने वाले कर्मों को 'दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय' तथा आगामी जीवन में फल देने वाले कर्मों को 'अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय' कहा गया है। अतः जन्म और मरण के मध्य में व्यक्ति द्वारा किए गए कर्मों से संचित हुआ कर्माशय एक जन्म का कारण है। मनुष्य को इस कर्मबन्धन से मुक्ति के लिए निरन्तर अष्टांग योग का अभ्यास करना चाहिए। इसके पालन से चित्त का विकार नष्ट हो जाता है तथा आत्मा अपने यर्थाथ स्वरूप को पहचान लेती है तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अष्टांग योग तथा कर्मसिद्धान्त

भारतीय दर्शन में योग का अत्यधिक महत्व है। तत्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार के लिए येाग साधना की आवश्यकता प्रायः सभी दर्शनों में स्वीकार की गई है। प्रकृति तथा पुरूष के स्वरूप के साथ ईश्वर के अरि. तत्व को मिलाकर मनुष्य जीवन की आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति के लिए दर्शन का एक बड़ा व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप योग दर्शन में प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रारम्भ पंतजलि के योगसूत्रों से होता है। महर्षि पंतजलि ने योग को 'चित्त की वृत्तियों के निरोध' (योगः चित्तवृत्तिनिरोधः) के रूप में परिभाषित किया है। योगसूत्र में बताया गया है कि किस प्रकार मनुष्य अपने मन (चित्त) की वृत्तियों पर नियन्त्रण रखकर जीवन में सफल हो सकता है और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या कैवल्य को प्राप्त कर सकता है। चित्त का अर्थ है अन्तःकरण। जब चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है अथवा स्वयं ही मानस विषयों के सम्पर्क में आता है, तब वह विषय का आकार ग्रहण कर लेता है। इस आकार को ही 'वृत्ति' कहते हैं।

पुरूष और प्रकृति के पार्थक्य का ज्ञान रहने के कारण आत्मा बन्धनग्रस्त हो जाती है। योग दर्शन में मोक्ष के लिए तत्व ज्ञान पर अत्यधिक बल दिया गया है। इसके अनुसार तत्वज्ञान की प्राप्ति तब तक नही हो सकती जब तक मनुष्य का चित्त विकारों से परिपूर्ण है। अतः योग दर्शन में चित्त की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए तथा चित्तवृत्तियों का निरोध करने के लिए अष्टांग योग की व्याख्या हुई है। योग दर्शन, शरीर, इन्द्रियाँ और चित्त की शुद्धि के लिए अष्टांग योग का वर्णन करता है। 'अष्टांग योग' शब्द से ही स्पष्ट है कि आठ अंगों वाला। आठ अंग है :-

१. यम

२. नियम

३. आसन

४. प्राणायाम

५. प्रत्याहार

६. धारणा

७. ध्यान

८. समाधि

१. यम- 'यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अवांछनीय कार्यों से निवृत्त कराते हैं, वे यम कहलाते हैं। यम पाँच प्रकार का संयम है :-

▶ अहिंसा- किसी भी प्रकार का (कायिक, वाचिक या मानसिक) हिंसात्मक व्यवहार न करना 'अहिंसा' है।

▶ सत्य- मन एंव वचन की एकरूपता को 'सत्य' कहते हैं। विचारों में सत्यता 'सत्य' है।

▶ अस्तेय- इसका अर्थ है चोरी न करना। किसी को भी उसके अधिकार या प्राप्य वस्तु से वंचित न करना। इस प्रकार धन का संग्रह करते हुए शास्त्रीय विधान का उल्लंघन न होना 'अस्तेय' है।

▶ ब्रह्मचर्य- इस व्रत द्वारा काम-वासना को उद्दीप्त होने से बचाया जाता है। इसके दो अर्थ हैं :-

(क) चेतना को ब्रह्म के ज्ञान में स्थिर करना और

(ख) सभी इन्द्रिय-जनित सुखों में संयम बरतना।

▶ अपरिग्रह- आवश्यकता से अधिक संचय नही करना और दूसरों की वस्तुओं की इच्छा नही करना 'अपरिग्रह' है।

२. नियम-'नियमन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः', इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो शुभ कार्यों में प्रवृत्त कराते हैं, वे नियम कहलाते हैं। प्रवृत्तिमूलक नियम पाँच प्रकार के हैं- [१]

▶ शौच- शरीर और चित्त के मलों की शुद्धि।

▶ सन्तोष- आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह की इच्छा न करना।

▶ तप- भूख -प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का सहन करना।

▶ स्वाध्याय- मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और मन्त्र जाप।

▶ ईश्वर प्राणिधान- ईश्वर का ध्यान या स्मरण।

३. आसन - 'आस्यतेऽनेनेति आसनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अवस्था में शरीर अपेक्षित समय तक सुख से रह सके, उसे 'आसन' कहते हैं। यह शरीर का संयम है। ध्यान के लिए वही आसन उत्तम है जिससे शरीर का सुख और चित्त की स्थिरता बनी रहे (स्थिरसुखाभास्यम)।

४. प्राणायाम- श्वास-प्रश्वास की अत्यन्त स्वाभाविक गति के निमन्त्रण को प्राणायाम कहते हैं। शास्त्रीय शब्दों में श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद प्राणायाम है।[२] महर्षि पंतजलि ने प्राणायाम के चार भेद किये हैं :-

▶ वाह्यवृत्तिरेचक ▶ आभ्यन्तरवृत्तिपूरक

प्प् स्तम्भवृत्तिकुम्भक ▶ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी कुम्भक

५. प्रत्याहार- शरीर प्रधान 'आसन' तथा प्राणवायु प्रधान 'प्राणायाम' की साधना पूरी हो जाने के पश्चात् अभ्यासी के लिए इन्द्रिय प्रधान 'प्रत्याहार' की साधना प्रशस्त हुई है। यह इन्द्रियों का संयम है।

'इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याछियन्ते विमुखोक्रियन्तेऽनेनेति प्रत्याहारः' इस व्युत्प. त्ति के अनुसार इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर उन्हे अन्तर्मुखी बनाना 'प्रत्याहार' है।

उपर्युक्त पांच अंग यम से प्रत्याहार तक येाग के बहिरंग है क्योंकि इनका लक्ष्य चित्त की भौतिक बाह्य पदार्थों की ओर जाने से रोकना होता है। इसके उपरान्त धारणा आदि तीन क्रियाओं द्वारा चित्त की एकाग्रता के विभि. न्न रूपों की साधना प्रारम्भ होती है। इन्हे अन्तरंग साधन कहा गया है।

६. धारणा- किसी देश में चित्त के स्थिरीकरण को धारणा कहते हैं। धारण ा के नाभिचक्र, ह्रदयकमल, कण्ड, मुख आदि आन्तरिक देश हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि धारणा के बाह्य देश हैं।

७. ध्यान- ध्येय वस्तु विषयक चित्तवृत्तियाँ जब निरन्तर एकाकार रूप से प्रवाहित हो तब इसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्येय वस्तु के ज्ञान की एकतानता का नाम 'ध्यान' है। (तत्रप्रत्येकतानता ध्यानम्)। ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान की अलग-अलग प्रतीति होती है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में दो प्रकार के ध्यानों का वर्णन मिलता है -

१. सगुण २. निर्गुण

८. समाधि- जब ध्यान ध्येय मात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्यानाकार रूप से रहित के जैसा हो जाता है तब उसे 'समाधि' कहते हैं। इसका अर्थ है ध्येय वस्तु में चित्त की विक्षेपरहित एकाग्रता। ध्यान तथा ध्येय की एकता होने पर ध्याता भी ध्येयाकार हो जाता है। समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी में ध्येय ही शेष रह जाता है और ध्याता एवं ध्यान ध्येयाकार हो जातें हैं। वृत्ति निरोध होने पर यदि चित्त अविद्या में लीन हो जाये तो यह अज्ञानावस्था, जड़ समाधि या भवप्रत्यय कहलाती है।

चित्त वृत्तिनिरोध के लिए प्रत्येक साधक को अष्टांग योग के मार्ग का अनुसरण करना होता है। यह व्यापक एंव परिपूर्ण मार्ग है। इसके अनुसरण से व्यक्ति निरन्तर कर्म करते हुए चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। परमलक्ष्य तक पहुंचने के लिए कर्म एक प्रधान साधन है। योगशास्त्र में इसका बहुत ऊँचा स्थान है। मनुष्य इन पुण्य कर्मों एंव पाप कर्मों का भोग करने के लिए जन्म लेता है। कर्म करने के अनन्तर उसमें संस्कार अर्थात् कर्माशय उत्पन्न होता है और वही वासना को उत्पन्न करता है तथा फिर वासना के अनुकूल जीव की उत्पत्ति तथा संसार में उसके कर्म होते हैं। यह कर्म चक्र अबाधित गति से अनवरत संसार में चलता रहता है। कर्म की गति अनादि है।

पंतजलि ने इन कर्मों को चार कोटियों में विभक्त किया है :-

क. शुक्ल

ख. कृष्ण

ग. शुक्लकृष्ण

घ. अशुक्लाकृष्ण

इन चतुर्विध कर्मों में से अशुक्लाकृष्ण कर्म को छोडकर शेष त्रिविध कर्मों से उनके फलानुसार गुणों वाली वासनाओं की प्रकटता होती है। दुर्जनों के कर्म कृष्ण होते हैं। बाह्य साधनों से उत्पन्न शुक्लकृष्ण कर्म साधारण लोगों के होते हैं। जीवनयापन करने के लिए उन्हे साधारण रूप से पुण्य और पाप दोनो करने होते हैं। अतएव शुक्लकृष्ण कर्म द्वारा दूसरों को पीड़ा देने से तथा उनके प्रति अनुग्रह दिखाने से उनका कर्माशय संचित होता है। तपस्या, स्वाध्याय तथा ध्यान में निरत लोगों के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं, इसलिए उन्हे बाह्य साधनों की अपेक्षा नही होती है। अतः उस प्रकार के कर्मों के द्वारा निश्चित रूप से न तो दूसरों को पीड़ा ही दी जा सकती है और न ही अनुग्रह ही दिखाया जा सकता है। इन कर्मों को शुक्ल कर्म कहते हैं। परन्तु परमज्ञानी लोग इस प्रकार का कर्म करते हैं जिससे उनकी चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध हो सकें। अतएव उनके चित्त में विद्यमान पुण्य और पापों के संस्कार की निवृत्ति हो जाती है। वे लोग पाप उत्पन्न करने वाले कर्म तो करते ही नही किन्तु तप, ध्यान आदि द्व ारा पुण्य जनक जो कर्म करते हैं उनके फल को प्राप्त करने की इच्छा भी उन्हे नही होती है। इसलिए उनके कर्म अशुक्लाकृष्ण कहे जाते हैं।[३] कर्म के फलों की इच्छा न होने से अशुक्ल तथा निषिद्ध कर्मों को न करने के कारण अकृष्ण योगियों के कर्म होते हैं।

'ततस्तद्विषाकनुगुणा नामेवाभिव्यक्ति वसिनानाम्' । योगसूत्र ४/८

अर्थात् यदि मनुष्य के कर्म शुभ कर्म हैं तो उसको मनुष्य योनि की ही प्र. ाप्ति होगी न कि नरक की। पहले तीन प्रकार के कर्मों से कर्माशय संचित होता है। चौथे प्रकार का कर्म कर्माशय का हेतु नही है। अर्थात् प्रथम तीन प्रकार के कर्मों से ही फल की उत्पत्ति होती है। अशुक्लाकृष्ण कर्म का फल नही होता है। व्यक्ति को अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल तुरन्त प्राप्त हो यह आवश्यक नही है अपितु निकट भविष्य से लेकर जन्मजन्मान्तर तक वह कभी भी फलोन्मुख हो सकता है। कर्ता को फलोपभोग कराये बिना कर्म का क्षय भी नही होता है। इस प्रकार भोग द्वारा ही कर्म का क्षय हा. ने से तथा उसके फल दान कर्म अवधि निश्चित न होने से सभी भारतीय दार्शनिकों ने एक मध्यवर्ती व्यापार की कल्पना की है, योगशास्त्र में इसे कर्माशय कहा गया है। कर्माशय का अर्थ है- कर्मजनित शुभाशुभ संस्कार। कर्म क्षणिक है किन्तु उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार अपना फल देने तक स्थाई रहता है। व्यक्ति को जिस प्रकार का अनुभव होता है उसी प्रकार का संस्कार होता है, वे संस्कार कर्माशय के अनुरूप होते हैं। उसी प्रकार की वासना होती है, वैसी ही स्मृति होती है, स्मृति से पुनः संस्कार होते हैं। इस प्रकार ये स्मृति और संस्कार कर्माशय की अभिव्यक्ति होने पर अभिव्यक्त होते हैं। संस्कार अपनी उदार अवस्था में फल प्रदान करता है। अच्छे-बुरे कर्मों से तीन प्रकार का फल प्राप्त होता है आयु, जाति तथा भोग।[४] 'जाति' पद से जन्म अथवा मनुष्य, पशु आदि योनियों से लिया जाता है। निश्चित अवधि तक देह तथा प्राण का संयोग रहना 'आयु' है।

सुख-दुःख की अनुभूति होना 'भोग' है। व्यक्ति अपने द्वारा किये गये कर्मों के अनुसार सुख-दुख का भोग तभी कर सकता है, जब उसके पास आयु हो। व्यक्ति आयु तभी धारण कर सकता है, जब उसने जन्म लिया हो। इस प्रकार कर्म से मिलने वाले तीनों फल परस्पर सम्बद्ध हैं।

कर्म अविलम्ब या विलम्ब से अपना फल देता है।[५] योगशास्त्र में वर्तम. ान जीवन में अपना फल देने वाले कर्मों को 'दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय' तथा आगामी जीवन में फलदान के व्यापार से युक्त होने वाले कर्मों को 'अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय' कहा गया है। अतः जन्म और मरण के मध्य में व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों से संचित हुआ कर्माशय एक जन्म का कारण होता है।

अष्टांग योग के माध्यम से मनुष्य असाधारण एंव अनुपम शक्तियों का विकास कर 'अशुक्लाकृष्ण' कर्म की स्थिति प्राप्त कर सकता है। यही जीवनमुक्ति का मार्ग है और इस दर्शन में स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। इस प्रकार निरन्तर कर्म करते हुए मनुष्य चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

REFERENCES

१. चसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वर प्राणिध्यानानि नियमाः। योगसूत्र २/३२ द्य २. स तु बाध्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। योगसूत्र २/५० द्य ३. योगसूत्र भाष ४-७ द्य ४. सति मूले तद्विपाको जात्यायु भोगाः। योगसूत्र २/१३ द्य ५. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। योगसूत्र १/१२ द्य